बाल–विकास में माता–पिता की भूमिका

कल्पना कुमारी

बाल्यावस्था जीवन की सबसे अमूल्य अवस्था है। मनौवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह संक्राति की अवस्था मानी जाती है। इस अवस्था के अन्तर्गत विकास में एक ओर बाल–सुलभ विशेषताओं का पलायन दृष्टिगोचर होता है तो दूसरी ओर यूवावस्था की विशेषताएँ व्यक्ति को महीमा मंडिल बताती है। उच्छृंखलता एवं उत्तर–दायित्व हनिता को भूलाकर नूतन उत्तरदायित्व पूर्ण कार्यो के सम्पादनार्थ तत्पर रहता है। फ्रायड (1930), एडलर (1924), युंग (1939) एरिक फ्रॉम (1972), कैरेन हॉनी (1937) सुलिमान 1973 इत्यादि। सभी प्राचीन एवं अर्वाचीन मनोवैज्ञानिक इस सिद्धान्त पर एक मत है कि बाल्यावस्था से लेकर किशोरावस्था तक पहुँचते ही भावी जीवन की आधार शिला स्पष्ट हो जाती है। इस अवस्था में अधिकांश बच्चें विद्यालय के आठवीं से लेकर ग्यारहवीं कक्षाओं में अध्ययनरत् रहते है। इसमें से कुछ अपने परिवार के पास रहते है तो कुछ छात्रावास में रहते है। इन दोनों ही पद्वतियों से जीवन यापन करने वाले बच्चों पर स्पष्ट रूप से दो तत्वों का एक साथ प्रभाव पड़ता है।